



हिन्दी उपन्यास का सौन्दर्य

डॉ. प्रवीण कुमार

pravinkmr05@gmail.com

किसी भी रचना का सौन्दर्य उसकी संरचना, जन्म और विकास की प्रक्रिया में निहित होता है और इसी रूप में रेखांकित भी किया जा सकता है। हिन्दी उपन्यास का सौन्दर्य भी इसी प्रक्रिया में समझा जा सकता है। उपन्यास की संरचना की जमीन भारत में औपनिवेशिक काल में तैयार होती है। उसकी परिस्थितियां भी उसी समय निर्मित होती हैं। यही कारण है कि हिन्दी में उपन्यास का उदय औपनिवेशिक काल में हुआ है। गोपाल राय के अनुसार “उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से लेकर लगभग आगामी सात दशकों तक हिन्दी पाठक वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया बहुत धीमी रही और उपन्यास एक विध के रूप में लगातार दस्तक देता रहा।”¹ उपन्यास जन्म ही लोककथा के मौद्रिक रूप होने से हुआ है। कथा की प्रवृत्ति वाचन की रही है लेकिन उपन्यास के रूप में कथा का स्वरूप लिखित और पाठक वर्ग की रही है। लिखित और पठनीय स्वरूप में आकर ग्रहण करने के लिए कथा रूपांतरण की प्रक्रिया से गुजरती रही है। रूपांतरण की प्रक्रिया में उपन्यास लिखित गद्यकथा का स्वरूप ग्रहण करता है। हिन्दी क्षेत्र में कथा की मौखिक परंपरा तो बहुत प्राचीन है लेकिन लिखित परंपरा की शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी में होती है। यहीं से हिन्दी पाठक वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया भी शुरू होती है। यही कारण है कि भारतेन्दु युग से हिन्दी उपन्यास की शुरुआत होती है जबकि गद्य लेखन की शुरुआत पहले हो चुकी थी। “रानी केतकी की कहानी” यद्यपि हिन्दी की पहली मौलिक लिखित और मुद्रित गद्य कथा है, उपन्यास नहीं है। रानी केतकी की कहानी 1803 ई. से लेकर 1869 ई. तक हिन्दी में कोई दूसरी मौलिक गद्य कथा नहीं लिखी गयी।”²

जैसा कि सर्वविदित है कि आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य का उदय भारतेन्दु युग से शुरू होता है। भारतेन्दु युग में उपन्यास का लेखन पाठक वर्ग की मांग पर नहीं, देशहित से प्रेरित होकर हुआ है। भारत वर्ष में उपन्यास का जन्म शिक्षा प्रदान करने के लिए खासकर स्त्री शिक्षा और स्त्री उ(र तथा भारतीय नवजागरण की अवधरणा के तहत हुआ। दूसरी मौलिक गद्यकथा गौरीदत्त कृत ‘देवरानी जेटानी की कहानी’ 1870 ई.में प्रकाशित हुई। इसके बाद मौलिक गद्यकथा का लेखन और मुद्रण सिलसिलेवार शुरू हुआ। ईश्वरी प्रसाद और कल्याण राम लिखित ‘वामा शिक्षक’; 1872 ई., श्र(राम पफुल्लौरी कृत ‘भाग्यवती’; 1877 ई., राधकृष्ण दास लिखित ‘निस्सहाय हिन्दू’; 1881 ई., लाला श्रीनिवास कृत ‘परीक्षा गुरु’; 1882 ई. आदि उल्लेखनीय गद्यकथाएं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लाला श्रीनिवास लिखित ‘परीक्षा गुरु’ को हिन्दी का प्रथम उपन्यास कहा है।³ मार्क की बात है कि “इस के काल उपन्यासों में जिस समाज का अंकन हुआ है, वह उच्च मध्यवर्गीय समाज है। समाज का निचला वर्ग, यहां तक कि निम्न और सामान्य मध्यवर्ग भी, इनमें अनुपस्थित है।”⁴ इससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि इस काल के उपन्यासों का सौन्दर्य ‘उच्च या उच्च मध्यवर्ग’ का है जो अपनी समझ से समाज और राष्ट्र की तलाश अपनी रचनाओं के माध्यम से कर रहे थे।

उपन्यास का उदय यथार्थवादी चेतना की रचनात्मक अभिव्यक्ति से जुड़ा हुआ है। हिन्दी उपन्यास भी इसका अपवाद नहीं है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशक के उपन्यासकारों की पहली उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि “इन्होंने केवल समकालीन अविकसित रुचि के पाठकों के मनोरंजन के लिए कौतूहलोत्पादक घटनाओं का इन्द्रजाल नहीं निर्मित किया है। इन्होंने उपन्यास लेखन में बालकृष्ण भट्ट, ब्रजनन्दन सहाय और महता लज्जाराम शर्मा का अनुगमन किया है। हिन्दी के उपन्यासों पर इन अनुवादों का भी प्रभाव देखा जा सकता है। यों इन उपन्यासों में भी संयोगाहत और अविश्वासनीय घटनाओं का अभाव



नहीं है, किन्तु इनका उद्देश्य कसी सामाजिक समस्या अथवा हिन्दू धर्म के सिद्धांतों और आचारों-विचारों का प्रतिपादन है, पाठकों का मनोरंजन नहीं। अपने उपन्यासों को रोचक बनाने के लिए इन उपन्यासकारों ने प्रेम का चित्रण किया है और कुछ ने कामव्यापार के चित्रण में आवश्यकता से अधिक रुचि भी ली है।...इन उपन्यासकारों का मुख्य उद्देश्य हिन्दू समाज की नानाविध समस्याओं का चित्रण तथा धर्मानुरूप आदर्श चरित्रा प्रस्तुत करना है। उल्लेखनीय है कि इन उपन्यासों में चित्रित प्रमुख समस्याएं नारी से जुड़ी हुई हैं। समाज में स्त्रियों का स्थान क्या हो, उन्हें किस प्रकार को शिक्षा दी जाए तथा उनके लिए किस तरह की आचरण संहिता हो, इस सम्बन्ध में इस काल के उपन्यासकार मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त थे एक तरफ कट्टर सनातनपन्थी हिन्दुओं का बहुसंख्यक समाज था जो नारीविषयक स्मृतिसम्मत आदर्शों से दृढ़तापूर्वक चिपका हुआ था। इस वर्ग की नारीविषयक धरणा यह थी कि स्त्रियों को हर हालत में पातिव्रत्य का पालन करना चाहिए, उन्हें कभी घर की चहारदीवारी से बाहर नहीं निकलना चाहिए, सास-ससुर और परिवार के अन्य सदस्यों की सेवा करना चाहिए, बचपन में ही लड़कियों का विवाह हो जाना चाहिए तथा यदि दुर्भाग्यवश कोई विधवा हो जाए तो उसे आजीवन वैधव्य व्रत का पालन करना चाहिए। उपन्यासों में विधवा विवाह और स्त्री-स्वातन्त्र्य का विरोध करते हुए इनके भंकर परिणाम दिखाए गए हैं।⁵ दूसरे शब्दों में हिन्दी उपन्यास अपनी प्रारंभिक अवस्था में स्त्री जीवन से जुड़कर सौन्दर्य को उपस्थित करने का प्रयास किया है। इस सौन्दर्य में सामाजिक जड़ता और नए परिवेश में जन्म ले रहा नवीन दृष्टिकोण दोनों का स्वरूप विद्यमान है। यह नवीन दृष्टिकोण सामाजिक समस्याओं के चित्रण में नवजागरण से जुड़ा है। मधुरेश के अनुसार "स्त्री जीवन से जुड़े दोनों पहलुओं को पश्चिमी और भारतीय संस्कृति के द्वंद्व के रूप में भी देखा जा सकता है-जिसे एक हद तक परम्परा और आधुनिकता के द्वंद्व के रूप में भी देखा जा सकता है, उसके अगंभीर और एकांगी रूप के बावजूद।"⁶ वहीं गोपाल राय के अनुसार "सामाजिक समस्याओं के चित्रण में, जो मुख्यतः नवजागरण से जुड़ी हुई थी, इस अवधि के उपन्यासकारों ने पर्याप्त रुचि ली है। इनमें समकालीन जीवन के सुपरिचित यथार्थ की ओर झुकाव बढ़ता दिखाई देता है। अब वे तिलिस्म और ऐयारी की दुनिया का त्याग कर अपनी आसपास की जिन्दगी की ओर अधिकाधिक मुड़ते प्रतीत होते हैं। स्त्री शिक्षा का प्रसार, बाल विवाह और वृ (विवाह की आलोचना, विधवाओं के प्रति सहानुभूति, लड़के-लड़कियों के विवाह में उपजाति की शर्त न मानने को समर्थन, बहुओं के प्रति सासों और सौतेले पुत्रों के प्रति विमाताओं के कठोर व्यवहार का अंकन तथा देशहित के लिए शिक्षा के प्रसार, हिन्दी भाषा की उन्नति, देशी व्यापार और उद्योग-धन्धे के विकास, यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के प्रचार आदि का समर्थन, विलायती सभ्यता, यूरोपीय रहन-सहन, वेशभूषा, खानपान की नकल की आलोचना इस अवधि के उपन्यासों में खूब मिलती है। वह तनिक आश्चर्य की बात है कि हिन्दी उपन्यास के 'आरम्भिक दौर' में स्त्री शिक्षा और स्त्रियों की सर्वांगीण उन्नति के प्रति जो उत्साह था। वह 1890 के बाद मन्द पड़ता दिखाई देता है। इस काल के उपन्यासकार सामान्यतः स्त्रियों की उच्च शिक्षा और उनकी स्वतंत्रता के घोर विरोधी हैं। नवजागरण की चेतना के प्रसार के बावजूद हिन्दू समाज नारी के प्रति परम्परागत दृष्टिकोण त्यागने की मानसिकता में नहीं आ सका था। सनातनी हिन्दुओं ने आर्य समाज के सुधरों के विरोध में अपना रूढ़िवादी रुख और भी कठोर कर लिया था। मेहता लज्जाराम शर्मा इस हिन्दू मानसिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। अन्य उपन्यासकार भी हिन्दू समाज की नारीविषयक रूढ़िवादी विचारधारा के विरोध में खड़े होने का साहस नहीं जुटा पाते। यद्यपि इस काल के किसी भी उपन्यासकार ने ब्रिटिश शासन का प्रत्यक्ष रूप में विरोध नहीं किया है, पर पुलिस विभाग, अदालतों और सरकारी दफ्तरों की आलोचना के रूप में उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रति अपना असंतोष अवश्य व्यक्त किया है। अंग्रेजी शिक्षा के कारण युवकों में पफैलती बेकारी की समस्या की ओर भी उपन्यासकारों का ध्यान गया है। इस अवधि का उपन्यास देश के उस विशाल जनसमुदाय से कटा हुआ है जो ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के शोषणचक्र में पिस रहा था। यह जनसमुदाय किसानों का था, जो मुख्यतः गांवों में रहता था और विदेशी सरकार, जमींदार, महाजन और पुरोहित सबका भक्ष्य बना हुआ था। किशोरीलाल गोस्वामी, भुवनेश्वर मिश्र, मेहता लज्जाराम शर्मा आदि कुछ उपन्यासकारों ने किसानों पर जमींदारों के अत्याचार, ग्रामीणों की निर्धनता, अशिक्षा तथा उनकी दीनहीन स्थिति का यत्रतत्र चित्रण किया है, किन्तु



यथार्थ के इस ज्वलन्त पक्ष पर उनकी सर्जनात्मक दृष्टि नहीं पड़ी है।⁷ इससे स्पष्ट है कि हिन्दी उपन्यास के प्रारंभिक दौर का सौन्दर्य यथार्थ की सर्जनात्मक दृष्टि का प्रतिफलन नहीं रहा है। यथार्थवाद से उपन्यास का स्वरूप निर्मित होता, इसकी तलाश हिन्दी जगत में हो रही थी। गोपाल राय के शब्दों में “प्रेमचन्द के आगमन के पूर्व हिन्दी उपन्यास अपने स्वरूप की तलाश कर रहा था। संभवतः उसे औपन्यासिक प्रतिभा की भी तलाश थी। प्रेमचन्द के हिन्दी में आगमन के साथ वह तलाश पूरी हो जाती है और हिन्दी उपन्यास प्रौढ़ता की अवस्था में प्रवेश करता है।⁸ दूसरे शब्दों में प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास का सौन्दर्य और स्वरूप दोनों अपनी जमीन की तलाश में रहा है। भारतीय जीवन के यथार्थ का एक महत्वपूर्ण पक्ष समाज और परिवार में नारी की स्थिति से संबंधित हैं। भारतीय नवजागरण नारी की परंपरागत स्थिति में सुधर से अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ था। “प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती प्रबु(उपन्यासकारों ने नारी-सुधर के प्रति अपनी प्रतिब(ता का भरपूर परिचय दिया था। बल्कि यह कहना भी असंगत न होगा कि पूर्ववर्ती समाज-सम्ब(उपन्यासों में स्त्री-समस्या केन्द्रीय कथ्य, या उसके बहुत निकट, बना रहा। पर प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकार नारी-संबंधी परम्परागत दृष्टिकोण में किसी क्रांतिकारी बदलाव के पक्षधर नहीं थे। अधिकतर कथाकार नारी विषयक परम्परागत आचार संहिता के समर्थक थे।⁹ इस आचार संहिता ने उपन्यास के केन्द्र में मानव जीवन के सौन्दर्य को स्थापित नहीं होने दिया। यह आचार संहिता हिन्दू धर्म से संचालित था और नवजागरण के कारण स्त्रियां शिक्षित तो हो रही थी लेकिन उनमें किसी भी प्रकार की नवीन चेतना नहीं थी। यहां तक स्त्रियों की उच्च शिक्षा का विरोध भी हिन्दू धर्म के ‘कर्मफल का सि(ंत’ का पालन और समर्थन इन अवधि के उपन्यासकारों का मुख्य ध्येय रहा है। हिन्दू धर्म के ‘आदर्श’ स्वरूप जैसे आदर्श पत्नी, आदर्श भाई, आदर्श बेटा, आदि इन उपन्यासों की शिक्षा देना और उसका पालन करना इन उपन्यासों में प्रमुखता दिखाई देता है। “इन उपन्यासों में हिन्दू धर्म की मूल बातों की आलोचना कहीं नहीं की गई है। केवल उन्हीं पक्षों की आलोचना मिलती है, जो हिन्दू शास्त्रों द्वारा अनुमोदित नहीं है।¹⁰

हिन्दी उपन्यास का प्रारंभिक स्वरूप और सौन्दर्य बहुत संगठित नहीं रहा है और न ही मानववादी वैचारिकता से लैस कहा जा सकता है। हिन्दी उपन्यास के स्वरूप को वैचारिकता के स्तर पर संगठित होने के लिए प्रेमचन्द का इंतजार करना पड़ा। प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास का स्वरूप अनगढ़, प्रेमाख्यान कथा का गद्य रूप, तिलिस्म, ऐयारी और काल्पनिक मनोरंजनपरक रहा है। उसका उद्देश्य सुधरवाद और नीतिपरक शिक्षा का रहा है। उसका सौन्दर्य हृदय परिवर्तन, सामाजिक-सांस्कृतिक सुधर और पारंपरिक भारतीय नैतिक मूल्यों के बीच लगातार परिष्कृत और परिमार्जित हो रहा था। हिन्दी का प्रथम उपन्यास ‘परीक्षागुरु’ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार ‘शिक्षाप्रद’¹¹ है। देवकी नंदन खत्री का उपन्यास ‘चंद्रकांता’ और ‘चंद्रकांता संतति’ का महत्व मुद्देश के अनुसार, “असाधरण कल्पना शक्ति और रहस्य को सुरक्षित रखने वाले कथा-संगठन है।¹² वहीं रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि ‘सर्वधरण में धूम और चर्चा’ के बावजूद “इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटनावैचित्र्य रहा। रससंचार, भावविभूति या चरित्राचित्रण नहीं। ये वास्तव में घटनाप्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्यकोटि में नहीं आते।¹³ हिन्दी के प्रथम साहित्यिक उपन्यास¹⁴ कार किशोरीलाल गोस्वामी, “वैचारिक दृष्टि से परंपरावादी हैं।” देवदासी प्रथा, विलायती शिक्षा-यात्रा, बेमेल विवाह, ढोंगी ज्योतिषियों का विरोध पर ‘वास्तविक ज्योतिष’ व कर्मफल सि(ंत, पातिव्रत्य व सतीत्व, स्त्री शिक्षा का समर्थक, लेकिन स्त्री की उच्च शिक्षा का विरोध करने वाले सनातनी हिन्दू दृष्टिवादी हैं। उनका मानना है कि लड़कियों को घर से बाहर पाठशाला में पढ़ने के लिए नहीं भेजना चाहिए, उन्हें घर ही पर हिन्दी और संस्कृत तथा गृहकार्य की विधिपूर्वक शिक्षा की जानी चाहिए। ‘अंगूठी का नगीना’ और ‘माधवी माधव वा मदन मोहिनी’ में उन्होंने ‘मेहतर’ आदि दलित जातियों के प्रति अपनी घृणा का इजहार किया है।¹⁵

रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार “लोक या किसी जनसमाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिंत्य परिस्थितियां खड़ी होती रहती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।¹⁶ उपन्यास का यह सौन्दर्य हिन्दी में बीसवीं सदी के दूसरे दशक में प्रेमचन्द के लेखन के साथ उद्घाटित होता है। प्रेमचन्द पूर्व लिखित “हिन्दी उपन्यास के विकास



की दृष्टि से महत्व अवश्य है किन्तु यह सर्वमान्य है कि वास्तविक अर्थ में उपन्यास की परंपरा का प्रवर्तन प्रेमचन्द से ही होता है।¹⁷ प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्ति बंगला या अंग्रेजी के उपन्यास की अनुकृति की भी रही है। शिवदान सिंह चौहान के अनुसार “हिन्दी के उपन्यासकार आचार, धर्म, नीति और समाज सुधर की भावना से उपदेशात्मक उपन्यास या केवल मनोरंजन के लिए तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यास लिखते रहे, लेकिन उनमें से कोई उपन्यास साहित्य की स्थायी संपदा बनने योग्य नहीं है।... प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी उपन्यासों का उल्लेख केवल इतिवृत्त की पूर्ति और परंपरा के विकास को जानने के लिए ही महत्वपूर्ण है, यद्यपि प्रेमचन्द सोलहों आने इस परंपरा से संब(नहीं हैं। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी उपन्यास की परंपरा का सूत्रपात प्रेमचन्द से ही होता है।¹⁸ प्रेमचन्द पूर्व लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यास ‘सिपर्फ’ नाम के लिए ऐतिहासिक है उसमें किसी भी प्रकार का न ऐतिहासिक अनुसंधन है और न ही वातावरण।¹⁹ इसलिए रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि “जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन न कर लिया जाता है और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्योरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पनाएं द्वारा उदभावना न तैयार कर लिया जाता है, तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं।²⁰ अर्थात् ऐतिहासिक उपन्यास में समाज का सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के साथ-साथ इतिहासबोध का होना अनिवार्य है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में, “सामाजिक कुरीतियों के दृश्य उपस्थित करके स्त्री-पुरुष सभी को लंबे-लंबे उपदेश झाड़ने की प्रवृत्ति इतनी मुखर थी कि उसमें कला के लिए कहीं स्थान न था।... इस काल के लेखकों के सामाजिक उपन्यास आज बीते युग की वस्तु लगते हैं, जिनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा।²¹ अर्थात् साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास का प्रारंभिक काल उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता है। उसमें काल्पनिक उपदेशात्मक इतिवृत्त ज्यादा मुखर रहा है। यही कारण है वह आमजन का अपनी तरफ आकर्षित तो करता है, जिज्ञासबोध से भी बाधे रखता है लेकिन प्रभावोत्पादक नहीं होता है। तत्पश्चात् हिन्दी उपन्यास विकासक्रम में न केवल लोकजीवन से अपनी शक्ति ग्रहण करता है बल्कि वह सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन से गहरे तौर पर जुड़ता भी है। समसामयिक गतिविधियों को पकड़ता भी है। प्रेमचन्द का लेखन इसी कड़ी में आता है।

प्रेमचन्द का हिन्दी में पहला उपन्यास ‘सेवासदन’ है। रामविलास शर्मा के अनुसार ‘यह उपन्यास पूर्व के कथा साहित्य का अगला कदम है। वर्तमान समाज में शिक्षा की विडंबना, धार्मिक पाखंड द्वारा समाज-सुधर का विरोध, अंग्रेज शासकों द्वारा जनता का उत्पीड़न आदि विषयों को प्रेमचन्द ने विशाल कथा साहित्य रचा था।²² अर्थात् तत्कालिन सामाजिक-सांस्कृतिक और राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियों को साहित्य लेखन में देखा जा सकता है। उपन्यास भी इससे अछूता नहीं रहा। जिस समय हिन्दी उपन्यास अपना स्वरूप और अपनी वैचारिकता गढ़ रहा था। उस समय की गतिविधियों को उर्जा देने में उपन्यासों के सौन्दर्यबोध को समझा जा सकता है। तत्कालीन भारतीय समाज आर्यसमाज के आंदोलन गहरे तौर पर प्रभावित रहा है। शिक्षित वर्ग से लेकर आमजन तक सभी वर्ग के लोग आर्यसमाज से प्रभावित रहे हैं। आर्यसमाज से प्रभावित समुदाय ने अशिक्षा, कुरीतियों, मूर्तिपूजा, तीर्थ यात्रा, बलि, परदा, दहेज, बाल और अनमेल विवाह का खंडन किया। उन्होंने विधवा विवाह, नारी शिक्षा तथा अछूतों को मानवीय अधिकार देने का समर्थन किया है। हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में आर्यसमाज से प्रभावित विचारों की प्रधानता है। यहीं से उसका सौन्दर्य भी उजागर होता है। आर्यसमाज जो प्रगीतशील मूल्यों को स्थान देता है लेकिन भारतीय समाज की यह विडम्बना है कि परंपरा से गतिशील मूल्यों का समय सापेक्ष स्वरूप बदलता तो जरूर है परन्तु वह कहीं न कहीं वर्णाश्रम व्यवस्था के मूल्यों का पालन व पोषण करता हुआ दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि आर्यसमाज द्वारा चलाए जा रहे सामाजिक आंदोलनों में दलितों(र की भावना तो निहित है लेकिन सामाजिक परिवर्तन की बात नहीं है। सामाजिक परिवर्तन के नाम पर सुधरवादी आंदोलन और हृदय परिवर्तन की बात की जाती है। जहां सुधरवादी और हृदय परिवर्तन की बात होती है वहां सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं हो पाता है। इसी सौन्दर्य से हिन्दी साहित्य का रचनात्मक कार्य संचालित और परिष्कृत है। अपवाद सभी जगह है, लेकिन सामाजिक परिवर्तन की बात नहीं है। आर्यसमाजी आंदोलन के कारण



भारतीय समाज में सुधरवादी आंदोलन जारी रहा मगर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया मंद रही है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में आर्यसमाज के प्रभाव स्वरूप रचनात्मक कार्य किया जाता रहा मगर उस कार्य में भारतीय समाज के दलित समाज हमेशा की तरह उपेक्षित रहा है, वंचित रहा है।

प्रेमचन्द के लगभग सभी उपन्यासों में भारतीय सामाजिक व्यवस्था का यथार्थ उभर कर आया है। भारतीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना का सौन्दर्य प्रेमचन्द की रचनाओं की विषय-वस्तु है। भारतीय समाज की जातिवादी व्यवस्था और मानसिकता, पुरुषवादी सोच, जमींदारी प्रथा, ब्राह्मणवादी व्यवस्था व मानसिकता और तत्कालीन सभी गतिविधियों का यथासंभव चित्रण प्रेमचन्द की रचनाओं में उपलब्ध है। उनका पहला उपन्यास 'सेवासदन' नारी जीवन पर आश्रित है। रामविलास शर्मा के अनुसार 'सेवासदन की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है। प्रेमचन्द ने किसी तरह तमाम पुरानी सांस्कृतिक परंपराओं को तोड़ते हुए वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता को अपने निष्ठुर और वीभत्स रूप में चित्रित किया है, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता।...प्रेमचन्द ने नकली आदर्शों की रामनामी खींचकर पंडितों और मौलवियों, समाज के प्रतिष्ठित सज्जनों और धनपतियों का वास्तविक रूप जनता के सामने प्रकट कर दिया। कबीर के बाद किसी ने इतनी सच्चाई से, ऐसे मर्मवेधी व्यंग्य से हिन्दू धर्म और इस्लाम, दोनों धर्मों के ढोंगियों और पाखंडियों का पर्दापफाश न किया था।'²³ इतना ही नहीं उनकी रचनाओं में 'बेगार प्रथा'²⁴ को चित्रित किया है। बेगार प्रथा भारतीय समाज की एक सच्चाई रही है और दलित समाज बेगार प्रथा का शिकार हमेशा से रहा है। प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' में इसका चित्रण किया गया है। 'रंगभूमि' उपन्यास 'गांधीवाद से प्रभावित' है, साथ ही इसमें पहली बार दलित समाज को नायकत्व प्रदान किया गया है। नायकत्व की दृष्टि से यह उपन्यास भारतीय राजनीति में दलित समाज की स्थिति की ओर संकेत करता है लेकिन नायकत्व की प्रकृति गांधीवाद से प्रभावित है।'²⁵ अर्थात् दलित समाज को गांधीवाद के बीच नायकत्व प्रदान कर प्रेमचन्द दलित समाज को नेतृत्व करने के लिए प्रेरित तो करते हैं लेकिन नेतृत्व का विज्ञान नहीं प्रदान करते हैं। यहीं पर आकर प्रेमचन्द की वैचारिकता, उनकी रचनाओं पर हावी हो जाती है, जो उनके इस बात को पूर्ण चरितार्थ नहीं होने देती है कि 'अब सौन्दर्य के प्रतिमान बदलना होगा'। शायद यह भी प्रेमचन्द की रचनाओं की सीमा है। प्रेमचन्द उपन्यास में समाज का यथास्थिति चित्रण करते हैं लेकिन यथास्थिति की जड़ता को तोड़ने में असफल रहते हैं। गोदान उनकी अप्रतिम कृति है जिसमें किसान जीवन की समस्याओं और उसकी जटिलताओं को रेखांकित किया है। रामविलास शर्मा के अनुसार 'गोदान की मूल समस्या टूटन की समस्या है।'²⁶ गोदान में किसानों के शोषण का रूप ही दूसरा है। वह शोषण के चक्रव्यूह में पफंसा है जिसका कारण जमींदारी प्रथा और किसानों से वसूला जाने वाला कठिन लगान है। प्रेमचन्द इस असमानतापरक सामाजिक व्यवस्था का न केवल विरोध करते हैं बल्कि अंत की बात करते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "समाज की ऐसी व्यवस्था, जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिंसे और खपें, कभी सुखद नहीं हो सकती। पूंजी और शिक्षा, जिसे मैं पूंजी ही का एक रूप समझता हूँ, इनका किला जितनी जल्द टूट जाए, उतना ही अच्छा है।'²⁷ यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द तत्कालिन सामाजिक व्यवस्था का अंत चाहते थे ताकि सभी मानव सुखद और आत्म-स्वाभिमान का जीवन जी सकें। इस उपन्यास का दूसरा पक्ष यह है कि यह यहां प्रेमचन्द का आदर्शवाद से मोहभंग है। इसलिए वे लिखते हैं कि 'मेरा इस व्यवस्था पर विश्वास नहीं है।'²⁸ गोदान में एक साथ प्रेमचन्द ने न केवल किसान जीवन की समस्याओं को दिखाया है बल्कि सामाजिक व्यवस्था में दलित और स्त्री जीवन की गति को भी रेखांकित किया है। साथ ही यह भी दिखाया है कि धर्म क्या है? "जो अपना धर्म पाले, वही बामन है, जो धर्म से मुंह मोड़े, वही चमार है।'²⁹ इस प्रकार प्रेमचन्द ने 'गोदान' के माध्यम से न केवल भारतीय समाज की सच्चाई को दिखाया है बल्कि व्यवस्था परिवर्तन की ओर भी संकेत किए हैं। गोबर की चेतना बदलते परिप्रेक्ष्य की नवीन चेतना है। व्यवस्था परिवर्तन की है। यह गोदान का यथार्थवाद है।

सत्ता शक्ति का मुठभेड़ यथार्थ की एक विशेषता है और रचना में यथार्थ का यह सौन्दर्य उसकी वैचारिकता को मजबूत करता है। हिन्दी उपन्यास अपनी जमीन तैयार कर लेने के बाद भी यह शक्ति अर्जित नहीं कर सका। 'प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती और समकालीन ;1901-20द्व्युपन्यासकारों में देश की पराधीनता



के यथार्थ का सही और तीखा बोध नहीं था। अधिकतर पूर्ववर्ती उपन्यासकार तो ब्रिटिश शासन का गुणगान ही कर रहे थे और जिन्हें ब्रिटिश शासन की वास्तविकता का बोध हो चुका था, वे भी उसके आतंक और दमन से त्रास्त थे। वे अधिक से अधिक अपने उपन्यासों में ब्रिटिश शासन के द्वारा होने वाले आर्थिक शोषण, देशोन्नति, शिक्षा के प्रसार, उद्योग-धंधे और कृषि के विकास, सामाजिक सुधार, स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आदि की बातें ही करते थे। जमींदारों द्वारा किसानों में पफैले भ्रष्टाचार आदि का चित्रण और यत्किंचित आलोचना तो वे करते थे पर शासन का विरोध करने का साहस उनमें न था।³⁰ ब्रिटिश शासन के विरोध की शक्ति न अर्जित करने के कारण उसकी सुधारवादी नीति ही है जो विरोध की चेतना को तैयार नहीं होने देती है। दूसरी बात जो महत्व की है वह यह कि हिन्दी उपन्यासों पर अंग्रेजी का बहुत ज्यादा प्रभाव है। जिसने उसे भारतीय परिवेश में सत्ताशक्ति के विरुद्ध (खड़ा नहीं होने दिया)। यहां तक कि 'प्रेमचन्द के उपन्यासों में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध (स्वाधिनता की लड़ाई का खुला चित्रण नहीं मिलता। उनकी कुछ कहानियों में स्वदेशी आन्दोलन, असहयोग, सविनय अवज्ञा, शराबबन्दी आदि आंदोलनों का चित्रण अधिक प्रखर है, पर उनके उपन्यासों में इनका चित्रण अप्रत्यक्ष रूप में ही पाया गया है। 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' में जो सेवा समितियां हैं उनका उद्देश्य सरकार का तख्ता पलटना नहीं, वरन् सामाजिक सुधार करना और जमींदारों तथा सरकारी कर्मचारियों से अनुनय विनय द्वारा किसानों की तकलीफों को दूर कराने का प्रयास करना है। 'कर्मभूमि' में अछूतों के मन्दिर-प्रवेश और निम्न वर्ग के लोगों के आवास की समस्या को तत्कालीन जनान्दोलन के चित्रण का बहाना बनाया गया है। अपने अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में प्रेमचन्द ने यह भी अनुभव किया है कि जब तक किसान संगठित नहीं होंगे तब तक वे सरकारी शोषण और दमन का प्रतिरोध नहीं कर सकेंगे। इस एहसास को प्रेमचन्द अपने किसी भी उपन्यास में व्यापक, तर्कपूर्ण रचना-संसार में परिणत करने का प्रयास करते नहीं दिखाई देते हैं। पर प्रेमचन्द का सारा उपन्यास साहित्य ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरोध में खड़ा है। देशी राजाओं, ताल्लुकदारों, महाजनों, पूंजीपतियों, सरकारी अमलों, अंगरेज-भक्त बुद्धिजीवियों, अंगरेजी शिक्षापति, न्यायपालिका आदि का विरोध अन्ततः औपनिवेशिक शासन का ही विरोध था। इसके साथ ही किसानों, मजदूरों, दलितों, स्त्रियों, वेश्याओं, साम्प्रदायिकता के शिकार साधरण जनों आदि के प्रति गहरी सहानुभूति भी मुक्ति आन्दोलन का ही विस्तार था।³¹ इस प्रकार गोपाल राय के अनुसार प्रेमचन्द की साधरण जनों के प्रति गहरी सहानुभूति मुक्ति आंदोलन का विस्तार है! क्या सचमुच में प्रेमचन्द की सहानुभूतिपरक रचनाएं और उसकी संवेदना एवं सौन्दर्य ने मुक्ति आंदोलन में ऊर्जा प्रदान की है? अद्यतन मुक्ति आंदोलन की वैचारिकता इसे स्वीकार करती है? इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि प्रेमचन्द की रचनाओं से मुक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि बनी है।

“प्रेमचन्द की सहानुभूति परंपरागत आदर्शवादी समाज संबंधों के प्रति थी, किंतु उन्होंने एक सच्चे कलाकार की तरह समग्र भारतीय जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। प्रारंभ में उनकी यह प्रवृत्ति अवश्य थी कि वे कृत्रिम रूप से सामाजिक समस्याओं के आदर्शवादी समाधन अपने उपन्यासों में भी भर देते थे, किन्तु बाद में एक कलाकार की वस्तुनिष्ठा उनके आदर्शवादी विचारक पर विजय प्राप्त करती गई। प्रेमा से लेकर गोदान तक का उनका विकास वस्तुतः आदर्शवाद से यथार्थवाद तक की मंजिल तय करने का इतिहास है।³² प्रेमचन्द कालीन तथा बाद के उपन्यासों का धरातल प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासों की तुलना में सामान्यतः ऊंचा रहा है। विषयवस्तु, रचना-तंत्रा शैली और भाषा, सभी दृष्टियों से हिन्दी उपन्यास प्रथम उत्कृष्टता प्राप्त की है। स्त्री पुरुष संबंध को लेकर हिन्दी उपन्यास में प्रारंभकाल से उपन्यास लेखन किया जा रहा है लेकिन जयशंकर प्रसाद ने स्त्री-पुरुष के प्रेम की मौलिक, मार्मिक और महत्वपूर्ण समस्याओं को उठाया है। विवाह की पवित्रता उसकी भावना में रहा है, केवल सामाजिक बंधन में नहीं। अर्थात् भावना की उसका आधार रहा है। 'कंकाल' इस दृष्टि से भारतीय नारी जीवन की दुर्दशा और कुंठा पर गहरा विद्रूप है। तारा दलित नारी जाति के विद्रोह की प्रतीक है। तारा के शब्दों में, मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी इकट्ठा न किया, पर किया प्रेम ही। तारा की यह बात वर्तमान समय में नारी जीवन की समस्याओं को प्रदर्शित करती है। विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक के उपन्यास 'मां' और



‘भिखारिणी’ में प्रेम, त्याग और मातृत्व की भावना का चित्राण हुआ है। पांडेय बेचन शर्मा उग्र, वृंदावन लाल वर्मा, जैनंद्र कुमार, इलाचंद्र जोशी, भवगतीचरण वर्मा, अज्ञेय, यशपाल, उपेंद्रनाथ अशक, राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रांगेय राघव आदि उपन्यासकारों का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। “इन रचनाकारों में उपन्यास लेखन की कोई एक ही परिपाटी नहीं मिलती और न प्रवृत्ति ही। साथ ही इनमें से हरेक ने जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओं का आकलन करने के लिए न्यूनाधिक मात्रा में उपन्यास कला को विकसित या विकृत भी किया है और उसे नई नई दिशाओं में मोड़ा है और अपने प्रयोगों द्वारा नए नए औपन्यासिक क्षेत्रों का परिशोधन किया है और कर रहे हैं।”³³ प्रेमचंद युग के उपन्यास में सौन्दर्य को कई स्तर पर देखा जा सकता है। इस सौन्दर्य में विषय वस्तु की विविधता है। लेकिन इस विविधता में कुछ पूर्व की परंपरा की आवृत्ति है। यह कुछ इतिहास की वस्तु बन गई। कुछ नवीन रहा है। नवीनता में औपनिवेशिक व्यवस्था की विद्रूपताओं और समस्याओं का चित्राण रहा, उसका विरोध और औपनिवेशिक सत्ता से मुक्ति की वैचारिता ही व्यक्त होती रही। सामाजिक सुधर की भावनाएं प्रबलता के साथ अभिव्यक्त हुईं। कुछ नए भविष्य का सूत्रपात भी हुआ। गोपाल राय लिखते हैं कि “उग्र और प्रसाद ने उपन्यास में चित्रित होने वाले यथार्थ का विस्तार किया और आज जिसे दलित या ‘सबाल्टर्न-यथार्थ’ कहा जाता है, उसका प्रवेश हिंदी उपन्यास में कराया।”³⁴ साथ ही सूत्रपात के तौर पर मनोविज्ञान का विस्तार हुआ है जो उपन्यास की संवेदना है। हिन्दी उपन्यास प्रेमचन्द युग में सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोविश्लेषण, आंचलिक आदि स्तर पर सौन्दर्य का सूत्रपात किया।

पांडेय बेचन शर्मा ‘उग्र’ के यहां समाज के कुत्सित अंगों और वर्जित पहलुओं का निर्भीक चित्राण है। वेश्यावृत्ति तथा सभ्य समाज के बाह्यावरण के नीचे छिपे अन्य घृणित तथा घातक कुरीतियों का नग्न चित्राण है। ‘बुद्धा की बेटी’ एक अछूत बालिका के जीवन का करुण चित्राण है। चतुरसेन शास्त्री ने भी उग्र की तरह समाज की कुत्सित और भ्रष्ट प्रवृत्तियों का चित्राण किया है। ‘हृदय की प्यास’ विधवा आश्रमों में व्याप्त अनैतिक दुराचारों पर आधारित है। वासना की आग मनुष्य को मनुष्य नहीं, पशुता की गर्त में धकेल देती है। यह उपन्यास इसी का सजीव वर्णन है। वृंदावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। अपनी जन्मभूमि बुंदेलखंड के इतिहास को रेखांकित करने का प्रयास किए हैं। उपन्यास में ऐतिहासिकता के यथार्थ चित्राण के साथ साथ रोमांस और आदर्शवाद की पुट रहती है। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृंदावनलाल वर्मा के बाद राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी और रांगेय राघव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी की औपन्यासिक संरचना श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास में गिनी जाती है। जिसमें ऐतिहासिकता के साथ साथ औपन्यासिक मार्मिकता दोनों का समन्वय है। ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ हजारीप्रसाद द्विवेदी का ऐतिहासिक उपन्यास है। चौथीराम यादव के शब्दों में “यह आत्मकथा समग्र मानव के मुक्ति प्रसंग की ससंदर्भ व्याख्या है, अकारण आरोपित सामाजिक स्तर-भेद को मिटा डालने का संकल्प है।, नरलोक से लेकर किन्नरलोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय की तलाश है, इतिहास की सांस्कृतिक यात्रा है, परंपरा का पुनर्मूल्यांकन है और मनुष्यता की स्थापना है।”³⁵ अर्थात् मानव की मुक्ति समाज में ‘रागात्मक हृदय’ और ‘मनुष्यता’ की स्थापना से होती है। यह मुक्ति मनुष्य के अंदर और बाह्य दोनों स्तर पर जीवन संघर्ष के साथ रेखांकित होता है। अंदर का मुक्ति-संघर्ष ही मानव मन की मुक्ति है। मानव मन की इच्छाएं, आकांक्षाएं किस प्रकार समय और परिस्थितियों के बीच जीवन का रेखाचित्रा खींचती है, इसका मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यबोध जैनन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि के उपन्यासों में देखा जा सकता है।

हिन्दी में, प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास में, मनोवैज्ञानिक उपन्यास के रूप में जिस धरा का विकास हुआ उसकी रचना-प्रकृति के मूल तत्त्व पश्चिमी देशों से आयातित है। पश्चिम का मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास मधुरेश के शब्दों में “अपने रचना रूप में जिस असाधारण प्रौढ़ता और काव्य उपकरणों के संभावनापूर्ण उपयोग का संकेत देता है हिन्दी में एक सीमा तक ही वैसा संभव हो सका। चेतना प्रवाह पति का सर्जनात्मक उपयोग हिन्दी में उस रूप में कहीं उपलब्ध नहीं है जैसा पश्चिम में वर्जीनिया वुल्फ और ज्वाइस में दिखाई देता है। इसी प्रकार उपन्यास में स्मृतियों और आत्मालाप के तत्त्व हिन्दी में बहुत



आरंभिक अवस्था का ही आभास दे पाते हैं। सामाजिक यथार्थ के विवरणात्मक रूप में विरु(जैसी प्रतिक्रिया, इस शताब्दी के दूसरे दशक में अंग्रेजी के उपन्यास में दिखाई दी थी, कुछ-कुछ वही स्थिति हिन्दी में प्रेमचंद और उनकी धरा के अन्य लेखकों के साथ भी दिखाई देती हैं इसीलिए हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यास इस इतिवृत्तात्मकता के विरु(एक प्रतिक्रिया के रूप में ही अधिक विकसित हुआ।³⁶ अर्थात् हिन्दी में मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास का उदय और उसका सौन्दर्य पूर्व के उपन्यासों की इतिवृत्तात्मकता एवं उसके सौन्दर्य के विरु(हुआ है। मधुरेश की यह स्थापना कोई नई नहीं है। हर युग की सीमा और उसके उपरांत सामाजिक गतिविधियों में ऐसा परिवर्तन संभव है और साहित्य की संवेदना इसी परिवर्तन से जुड़ी हुई है। हिन्दी उपन्यास का सौन्दर्य इससे अछूता कैसे रह सकता है! प्रेमचन्द की रचनाओं के बाद जैनेन्द्र, यशपाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पफणीश्वरनाथ रेणु आदि की रचनाओं को इस रूप में देखा समझा जा सकता है।

जैनेन्द्र कुमार प्रेमचन्द के बाद एक ऐसे रचनाकार है जिन्होंने विषयवस्तु, शैली, प्रवृत्ति, भाषा तथा अन्य सभी दृष्टियों से साहित्य जगत में मौलिक रूप से नया परिवर्तन किया है। उन्होंने गांव या समाज को लेखन का विषय-वस्तु नहीं बनाया बल्कि नगरों की गलियों में बसने वाले शिक्षित मध्यवर्गीय परिवारों के व्यक्तिगत जीवन में उठने वाली मनोवैज्ञानिक समस्याओं को, व्यक्ति के भीतर और बाहर की दुनिया के वातावरण से उत्पन्न समस्याओं जो आत्मपीड़क कुंठाओं और असंतोषों को जन्म देती हैं को अपने लेखन का विषय बनाया है। उन्होंने पुरुष और नारी के प्रेम की समस्या को आधारभूत बनाकर 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्रा' और 'कल्याणी' उपन्यास की रचना की है। जिसमें मध्यवर्ग के जीवन में यह समस्या विभिन्न स्तरों पर किस रूप में उठती है, इसका चित्रण है। 'त्यागपत्रा' यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक चरित्रा-चित्रण की दृष्टि से एक श्रेष्ठ उपन्यास है। गोपाल राय के अनुसार "त्यागपत्रा मनुवादी हिन्दू व्यवस्था के 'नारी संहिता' और 'रीति-नीति' के मूल्यों की उपेक्षा और अपने ढंग से इनकी व्याख्या ही मृणाल की त्रासदी का कारण है।" इसी के साथ वे लिखते हैं कि "मृणाल की वेदना और विद्रोह दोनों गहन मनोवैज्ञानिक जटिलता से युक्त हैं। मायके के किंचित स्नेहरहित, रुढ़िवादी और उदासीन परिवार द्वारा उसके प्रेम का अस्वीकार, एक दुहाजू और प्रौढ़ व्यक्ति से उसकी इच्छा के विरु(विवाह, पति का शंकालु स्वभाव और उसके द्वारा मृणाल का शारीरिक पीड़न और अंततः घर से निष्कासन, यह सब उसके साथ होता है और इसके जवाब में वह आत्महत्या न कर ऐसी जीवन-प(ति अपनाती है, जो समाज की प्रबु(चेतना को लहलुहान कर देने वाली है।"³⁷ वहीं शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं कि "जैनेन्द्र कुमार उपन्यासों में समस्या उठाते हैं और समस्या पर ही उनका अंत करते हैं ऋ समाधान के प्रत्यक्ष या परोक्ष इशारे भी नहीं देते। जीवन एक अनबूझ पहेली बन जाता है, इसी से उपन्यास में एक रहस्यात्मकता या दुरुहता का आभास मिलता है।"³⁸

इलाचन्द्र जोशी प्रफायड के मनोविश्लेषण वाद से प्रभावित होकर काल्पनिक पात्रों की उद्भावना करके उन्हें अपने चातुर्दिक सामाजिक जीवन में स्थापित कर के कथा सूत्रा का निर्माण करते हैं। शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में "सामाजिक जीवन का वैषम्य व्यक्ति की कामवासनाओं का दमन करता है और उसकी महत्वाकांक्षाओं को कुंठित, जिससे परिपूर्ति और परितृप्ति के साधरण मार्ग बंद होने पर मन की अवचेतन और अर्धचेतन गुणधर्मों में ये वासनाएं उमड़ती-धुमड़ती पफूत्कारती रहती हैं और मातृ-रति, स्व-रति और आत्म-केंद्रित हीन भावना जैसी कांपलेक्सों को पैदा करके मनुष्य को विकिप्त और असामाजिक प्राणी बना देती हैं। प्रफायड के इन्हीं सि(तों का चर्चित-चर्वण इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में मिलता है। व्यक्ति मानस के अज्ञात कोनों में दबी पड़ी इन काम-प्रवृत्तियों का अध्ययन तथा चित्रण ही आपका उद्देश्य है।"³⁹ अर्थात् हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सौन्दर्यबोध पश्चिम की प्रफायड और अन्य मनोवैज्ञानिकों के सि(त पर लिखी गई है जिस कारण उनकी मौलिकता और दृष्टि भारतीय समाज को मानसिक स्तर पर बौ(क बनाने में कमजोर साबित होता रहा है। वह समाज में बौ(क वर्ग नहीं पैदा कर सका जिसके कारण भारतीय समाज की जड़ता टूटती और समाज में एक नया परिवर्तन देखने को मिलता।



अज्ञेय इलाचन्द्र जोशी और भगवतीचरण वर्ता की परंपरा के लेखक हैं लेकिन मौलिकता की दृष्टि से उनसे भिन्न हैं। “हिन्दी आलोचक श्री नलिन विलोचन शर्मा का अनुमान है कि अज्ञेय ने प्रफायड-लारेंस आदि से उपादान लेकर अंग्रेजी उपन्यासकार कोनार्ड की प्रत्यग्दर्शन की शैली में ‘शेखर : एक जीवनी’ को लिखा है, लेकिन उनका प्रयोग असफल हुआ है।”⁴⁰ शेखर : एक जीवनी एक आत्मकथात्मक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। ‘शेखर: एक जीवनी, में उसकी बाल्यकाल से लेकर यौवनकाल तक की आत्मकथा है। शेखर प्रारंभ से अहंभावना, भय तथा सेक्स की जिज्ञासाओं से आक्रांत है। माता-पिता उसकी जिज्ञासाओं को दबाते हैं तो उसकी आत्मा विद्रोही बन जाती है। समाज, धर्म, ईश्वर, नैतिकता, सबके प्रति उसके मन में तीव्र अनास्था पैदा होती है।...शेखर विद्रोही है-सृष्टि के प्रति, क्योंकि वह अधूरी और अपूर्ण है ऋ समाज के प्रति, क्योंकि वह संकीर्ण है ऋ समस्त रीतियों तथा संस्थाओं के प्रति...अपने व्यक्तित्व के प्रति... इस असामाजिक, अराजक, उ(त और उच्छृंखल विद्रोह का कहीं अंत नहीं। किन्तु व्यवहार में शेखर विद्रोही नहीं है। वह एक कुंठित, घोर आत्म-केन्द्रित, अंतर्मुखी पात्रा है जो अपनी कुंठित भावनाओं की छान-बीन करने में ही लीन रहता है। अपने मन के भीतर वह जितना बड़ा विद्रोह-सत्त्व है, बाह्य जीव में वह उतना ही अवसरवादी और आत्मभीरु भी है। वर्तमान जीवन की विषमताओं ने ऐसे कुंठित और खंडित व्यक्तित्व पैदा किए हैं, इसमें संदेह नहीं और यदि अज्ञेय ने एक कलाकार की निस्संगता बरतकर अपनी ओर से शेखर को एक अति मानव की थोथी महिमा से मंडित न किया होता, तो सचमुच शेखर आधुनिक जीवन की एक मौलिक समस्या का श्रेष्ठ और यथार्थ चित्रा बन जाता।”⁴¹

यशपाल प्रेमचन्द की यथार्थवादी परंपरा के लेखक हैं। उन्होंने उपन्यास के माध्यम से युग-जीवन और उसके संघर्ष को आकलित करने का प्रयत्न किया है। एक कथाकार के रूप में यशपाल का उद्देश्य वर्तमान समाज की जर्जर मान्यताओं के खोखलेपन को उघाड़कर सामने रखना रहा है। आप अपने यथार्थवाद में प्रेमचन्द की तरह आदर्श का नहीं, रोमांस का संयोग करते हैं, जो सब जगह सफल नहीं हुआ है, कथा पर आरोपित या उसमें क्षेपक की तरह जुड़ा हुआ लगता है। यशपाल के उपन्यास पर राजनीतिक रोमांस का आरोप लगता रहा है। शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में “वस्तुतः बात यह है कि आपने अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के व्यापक, सांस्कृतिक और सौन्दर्यपक्ष को उतना नहीं पहचाना जितना आर्थिक पक्ष को, जिससे आप मनुष्य की समस्त समस्याओं को स्थूल ‘शिश्नोदर’ की समस्या के रूप में संकीर्ण बना देते हैं। इसी से आपके यथार्थवाद की सीमाएं बंध जाती हैं और आपको अपनी कथाओं को मनोरंजक बनाने के लिए नग्न -प्रसंगों की भरती करनी पड़ती है।”⁴² यशपाल के ‘देशद्रोही’ में मजदूर आंदोलन का रेखाचित्रा है। मध्यवर्ग के एक बु(जीवी का चित्रा है जो अपनी अनेक मानसिक उलझनों के बावजूद मजदूर आंदोलनों की ओर आकृष्ट होता है। ‘दिव्या’ में बौ(धम्म के “स, वर्णाश्रम धर्म के पुनरुत्थान, ब्राह्मणों के षड्यंत्रा और दासों के विद्रोह की प्राचीन सामंती पृष्ठभूमि में यशपाल ने नारी चरित्रा का विकास दिखाया है। दिव्या की काल्पनिक कथा में ऐतिहासिकता का वातावरण आलोकित हुआ है। इसमें आश्रय के आदान प्रदान की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया भिक्षु पृथुसेन का दिव्या को दिया गया ‘संघ की अपार करुणा’ का वचन, आचार्य रुद्रधर के द्वारा ‘महादेवी’ का आसन और चार्वाक मारिश ‘नारित्व की कामना में अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान प्रदान चाहता है... संतति की परंपरा के रूप में अमरत्व दे सकता है। दिव्या उसे ही स्वीकार करती है। इसी की अगली कड़ी यशपाल का उपन्यास ‘मनुष्य के रूप’ को देखा जा सकता है। ‘मनुष्य के रूप’ उपन्यास नारी जीवन की समस्या पर आधारित है। प्रेम को केन्द्र में रख कर लिखा गया यह उपन्यास सामाजिक जीवन का बहुत बड़ा पफलक प्राप्त करता है। जिसमें प्रेम एक सामाजिक जीवन का आधार है। जीवन यापन के लिए आश्रय का काम करता है। शिवदान सिंह चौहान के अनुसार “मनुष्य के रूप आधुनिक जीवन की एक मौलिक समस्या को उद्घाटित करता है। पूंजी की सत्ता वाले समाज में प्रेम की निष्कलुष मानवीय भावना किस प्रकार विकृत होकर व्यावसायिक रूप धरण कर लेती है, मनुष्य के रूप इसका सजीव चित्रा है।”⁴³

उपेन्द्रनाथ अशक के उपन्यास ‘सितारों के खेल’ से लेकर ‘गिरती दीवारें’ तक के सपफर में रोमानी वातावरण से यथार्थ के सौन्दर्य का चित्राण मिलता है। लेकिन “नए उपन्यास ‘गरम राख’ में अशक जी की



कला प्रकृतिवादी हो गई है, जो "।स का लक्षण है।"⁴⁴ राहुल सांकृत्यायन हिन्दी साहित्य में एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में जाने जाते हैं। उनका ऐतिहासिक उपन्यास 'सिंह सेनापति', 'जय-यौधेय' और 'मधुर स्वप्न' उल्लेखनीय रहा है। इस ऐतिहासिक उपन्यास का सौन्दर्य यह है कि इसमें मनुष्य की सभ्यता-संस्कृति की विकास-यात्रा रेखांकित है। विभिन्न प्राचीन सांस्कृतिक और सामाजिक युग आलोकित है। वर्गविहीन, समतापरक समाज के निर्माण की प्रक्रिया, स्वच्छंद और उन्मुक्त जीवन की स्थापना है। रांगेय राघव के उपन्यास में सामाजिक और ऐतिहासिक सौन्दर्य का बोध होता है। 'घरोंदे' जो कि उनका पहला उपन्यास है विद्यार्थी जीवन की विविध झांकियों को चित्रित करता है। 'मुर्दा का टीला' एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें मोहनजोदड़ो की सभ्यता-संस्कृति और उसके पतन की कहानी है। शिवदान सिंह चौहान के अनुसार "प्रागैतिहासिक सभ्यता पर साहित्यिक कल्पना का यह हिन्दी में पहला उपन्यास है।"⁴⁵ वहीं मधुरेश का लिखते हैं कि "करुणा और अवसाद से पूर्ण मोहनजोदड़ो की सभ्यता एवं संस्कृति के विनाश की गाथा है।"⁴⁶ इस प्रकार हिन्दी उपन्यास एक विकास यात्रा की ओर बढ़ता रहा है और विविध सौन्दर्य को स्थापित करता रहा है। 'प्रेमचन्द के बाद हमारे राष्ट्रीय जीवन की विसंगतियां और भी उभरकर सामने आ गई हैं, जिससे वह पहले जैसी सर्वजनीन ऐक्य-भावना नहीं रही। इस वि शृंखला और वैषम्य के वातावरण में हमारा कथा साहित्य अनेक विरोधी प्रवृत्तियों की राहों में बंट गया है। कोई सामान्य लक्ष्य और उद्देश्य नहीं है, इसीलिए जनवादी और जनद्रोही, वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ, सामाजिक और अराजक प्रवृत्तियां उपन्यास साहित्य में विभिन्न लेखकों के अपने अपने दृष्टिकोणों के अनुसार अभिव्यक्ति पा रही हैं और आपस में टकरा रही हैं। हमारा राष्ट्रीय जागरण एक संक्रांतिकालीन दुरभि संधि के अंतर्द्व में पफंसकर अपनी पूर्णाभिव्यक्ति के लिए छटपटाहट रहा है।"⁴⁷

आजादी के बाद उपन्यास सौन्दर्य जहां एक तरफ गांव की आंचलिकता में प्रवेश करता है वहीं दूसरी ओर वह आजादी के स्वप्न के मोहभंग और उससे उपजी परिस्थितियों-स्थितियों को रेखांकित करता है। "अपनी लगभग पांच दशकों की यात्रा में हिन्दी उपन्यास ने देश के बदलते हुए जीवन यथार्थ को उसके पूरे विस्तार और वैविध्य में गहरी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। इस अवधि में परिमाण और प्रकार दोनों दृष्टियों से हिन्दी उपन्यास का अभूतपूर्व विकास हुआ है। शायद से समकालीन यथार्थ का कोई ऐसा पक्ष हो, जो उपन्यास की संवेदनशील पकड़ से छूट गया हो। पिछली आधे सदी में गांवों की वास्तविक जिन्दगी और उसमें आए बदलाव, स्त्री की परम्परागत दुःखभरी दास्तान, उसके रूपान्तरण तथा सबलीकरण की प्रक्रिया, दलितों की नरकतुल्य जिन्दगी और उनके उठ खड़े होने की सच्चाई, समाज के पिछड़े वर्ग का विद्रोह, मध्य वर्ग की बहुरंगी यथार्थ, परिसर जीव की विकृतियां, राजनीति के क्षेत्र में आयी गिरावट, कला, साहित्य और पत्राकारिता के क्षेत्रों की बदसूरत वास्तविकता आदि हिन्दी उपन्यास में अपने यथार्थ रूप में दिखाई देते हैं। इसके साथ ही भारतीय इतिहास और पुराण साहित्य भी उपन्यास का उपजीव्य बना है।"⁴⁸ आजादी पूर्व प्रेमचन्द और प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास में गांव का चित्रण मिलता है जिसमें ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत जीवन यापन करने वाले ग्रामीणों का अंकन किया गया था। गरीबी, जहालत और सभी प्रकार के पिछड़ेपन का जीता जागता प्रतीक था इनका जीवन। आजादी के तुरन्त बाद के उपन्यासकारों के सामने भी गांव का लगभग यही रूप था। इस दशक में ग्रामीण जीवन आधारित आंचलिक संवेदना उपन्यास में स्थान ग्रहण करने लगी। 'मैला आंचल' जिसका प्रतिनिधित्व करता है। पफणीश्वरनाथ रेणु लिखते हैं कि 'यह है मैला आंचल, एक आंचलिक उपन्यास।...इसमें पफूल भी हैं शूल भी, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी, चंदन भी, सुंदरता भी है, कुरुपता भी-मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया।"⁴⁹ रेणु के उपन्यासों की विशेषता यह है कि उनमें गांव अपनी मजबूरियों के साथ ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक समृद्धि और राजनीतिक चेतना के साथ भी उपस्थित है। गांव के यथार्थ के अनेक रूप, जैसे-जातिवाद, नैतिक स्खलन, नेताओं के नकली चेहरे और सत्ता की राजनीति आदि रेणु के उपन्यासों में पहली बार इतनी प्रमुखता के साथ उजागर हुए। इसके साथ ही रेणु ने उपन्यास की एक ऐसी भाषा का आविष्कार किया जो परिनिष्ठित हिन्दी होती हुई भी अपढ़ ग्रामीणों द्वारा बोले जाने वाले तद्भव और अपभ्रष्ट शब्दों का यथार्थ और संवेदना के स्तर पर उपयोग करती है और उसे कहीं भी अग्रह्य नहीं बनने देती। आंचलिक उपन्यास का "एक



आंदोलन के रूप में सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसने लोक जीवन के प्रति लुप्त प्रायः आकर्षण को नए सिरे से जीवित किया। अछूते अंचलों के प्रति लेखकों की दृष्टि जाने के परिणाम स्वरूप उपन्यास की रचनावस्तु का विस्तार हुआ और देश के अनेक अछूते और अपरिचित भू-भागों से हमारा परिचय हुआ। उन अंचलों के खण्ड-खण्ड जीवन के द्वारा हमारी जातीय पहचान सघन और समृद्ध हुई। अंचलों से संबंधित लोकगीत, लोक भाषा और उससे जुड़े अछूते बिंबों-प्रतीकों ने भाषा की सर्जनात्मक क्षमताओं के नए द्वार खोले। रंग, लय और ध्वनियों के महत्व के पुनराविष्कार द्वारा उपन्यास की इतिवृत्तात्मकता को तोड़ने की कोशिश भी की गई। एक संक्षिप्त कालावधि में ही इस आंदोलन ने हिंदी उपन्यास को बहुत कुछ ऐसा दिया जो पहले नहीं था और जिसकी अनुगूँज और प्रभाव उस पर, किसी न किसी रूप में अभी भी देखे जा सकते हैं।⁵⁰ इस प्रकार हिन्दी उपन्यास के इतिहास में आंचलिक उपन्यास ने आंचलिक यथार्थ की स्थापना की है और औपन्यासिक इतिवृत्तात्मकता को तोड़ने का भी काम किया।

“आजादी मिलने के बाद ग्रामीणों ने अपने सुखमय जीवन का एक स्वप्न देखा था, जिसकी अभिव्यक्ति भी छठे दशक के ग्रामाभित्तिक उपन्यासों में हुई थी। ग्रामीण किसानों और खेतिहर मजदूरों ने समझा था कि आजादी के बाद जमींदारों और भूमिपतियों का शोषण और अत्याचार समाप्त हो जाएगा, उन्हें भी खेती और आवास के लिए जमीन प्राप्त होगी, शिक्षा, जीविका के साधने और स्वास्थ्य सुविधाएं मिलेंगी। सरकारी कर्मचारी उनकी सेवा के लिए होंगे। आजादी की लड़ाई में उनका नेतृत्व करने वाले नेता देश के विकास कार्य में लग जाएंगे। पर ऐसा नहीं हुआ। दशक बीतते-बीतते यह सपना टूटने लगा था। विदेशी शासन और जमींदारी प्रथा का तो अन्त हो गया, पर किसानों का सामन्ती और महाजनी शोषण थोड़े बदले रूप में बना ही रहा। पुराने जमींदार, भूमिपति और महाजन वेश बदलकर राजनीति में शामिल हो गये और संसद, विधन सभाओं और सार्वजनिक संस्थाओं में प्रवेश कर आम जनता का पूर्ववत् शोषण करते रहे। ‘सामुदायिक विकास योजना’ सरकारी तंत्रा के भ्रष्टाचार के दलदल में डूब गयी और गांव ज्यों के त्यों पिछड़े रह गये। कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात के क्षेत्रों में विकास नाममात्रा का ही हो पाया।...राजनीतिक चुनावों में राजनीतिक चेतना उतनी नहीं जगी जितनी जातिवाद, सम्प्रदायवाद और क्षेत्रवाद की भावना पनपी। गांवों का पम्परागत ढांचा बिखर गया। प्रेम, सदभाव और भाईचारे के मूल्य नष्ट हो गये, पुराने संबंधों में दरार पड़ गयी। पूरी परंपरागत ग्राम-व्यवस्था जड़ से हिल गयी और उसका कोई स्वस्थ विकल्प निर्मित नहीं हो पाया। इस यथार्थ की विश्वसनीय और कलात्मक अभिव्यक्ति सातवें दशक के उपन्यासों में हुई।⁵¹ अर्थात् आजादी के बाद राजनीतिक चेतना का जैसा विकास होना चाहिए वैसा हुआ नहीं। यह चेतना राजनीतिक सत्ता के स्वार्थ में जातिवादी, संप्रदायवाद, क्षेत्रवाद आदि में विखंडित हो गई और समाज लगातार उसकी आग में जलता रहा है। राजनीतिक चेतना के इस विकृत स्वरूप का चित्रण तो हिन्दी उपन्यास में मिलता है लेकिन इसके विरुद्ध (प्रतिरोध की चेतना नहीं देखाई देती है। श्रीलाल शुक्ल के ‘रागदरबारी’ में व्यंग्यत्मक रूप में देश की राजनीतिक व्यवस्था के विरोध का चित्रण मिलता है। “यह राग उस दरबार का है जिसमें हम देश की आजादी के बाद और उसके बावजूद पड़े हुए हैं। कथा-भूमि है एक बड़े नगर से कुछ दूर बसा हुआ गांव शिवपालगंज, जहां की जिंदगी प्रगति और विकास के समस्त नारों के बावजूद, निहित स्वार्थ और अनेक अवांछनीय तत्त्वों के आघातों के सामने घिसट रही है। शिवपालगंज की पंचायत, कॉलेज की प्रबंध-समिति और कोआपरेटिव सोसाइटी के सूत्राधर वैद्यजी साक्षात् वह राजनीतिक संस्कृति हैं जो प्रजातंत्रा और लोकहित के नाम पर हमारे चारों ओर पफूल-पफूल रही है।⁵²”

आजादी ने स्त्री की जिंदगी में एक नया परिवर्तन किया। अब वह केवल शिक्षित हुई बल्कि आर्थिक तौर पर सबल भी हुई। आर्थिक निर्भरता ने उनकी जिंदगी में अनेक परिवर्तन किया तो स्त्री-पुरुष संबंध में बदलाव आया। गोपाल राय आजादी के बाद स्त्री जीवन में आए बदलाव को तीन स्तर पर रेखांकित करते हैं। “आजादी के बाद के हिन्दी उपन्यास में नारी के तीन रूप दिखाई पड़ते हैं। अपने पहले रूप में वह सदियों से चलती आ रही शोषण और अत्याचार की स्थितियों की शिकार है। दूसरे रूप में वह नयी परिस्थितियों से पैदा हुई समस्याओं से जूझ रही है और तीसरे रूप में आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने, परम्परागत नारी संहिता की जकड़न को चुनौती देने और राजनीतिक दृष्टि से सबलीकरण की दिशा में



अग्रसर होने के लिए संघर्षरत हैं सदी के अन्तिम दो दशकों में प्रकाशित उपन्यासों में हमारा साक्षात्कार ऐसी स्त्री पात्रों से होता है जो अपने सामने उपस्थित चुनौतियों को दृढ़ता के साथ स्वीकार करती हैं और अपने किसी निर्णय के लिए किसी पुरुष का मुंह नहीं जोहतीं। राजी सेठ की 'वसुध', नासिरा शर्मा का 'महरुख', चन्द्रकान्ता की 'कुनी', मैत्रोयी पुष्पा की 'मन्दाकिनी', 'सारंग' और 'आल्मा', प्रभा खेतान की 'प्रिया' और 'सोमा', सुरेन्द्र वर्मा की 'वर्षा', चित्रा मुद्गल की 'नमिता', उषा प्रियंवदा की 'वाना' आदि अपनी खुशी, मुक्ति, अधिकारों की प्राप्ति या अस्मिता की रक्षा के लिए साहसपूर्ण कदम उठाने की पहल करती हैं। प्रश्न चाहे जीवन-साथी चुनने का हो या कार्यक्षेत्रा चुनने का, वे अपना निर्णय खुद लेती हैं। सजग आत्मचेतना और आत्मनिर्णय से लैस होकर वे न केवल सामन्ती परिवेश और रूढ़ मर्यादाओं के गढ़ को तोड़ती हैं बल्कि सकारात्मक ढंग से अपने व्यक्तित्व की रचना भी करती हैं।⁵³ इस प्रकार हिन्दी उपन्यास में स्त्री जीवन के विभिन्न आयामों का चित्रण मिलता है।

हिन्दी उपन्यास के सौन्दर्य में दलित समाज का भी चित्रण मिलता है। नवजागरण और आजादी का संघर्ष ने भारतीय समाज को कापफ़ी आंदोलित किया था। इस आंदोलन में दलित समाज की भी अहम भूमिका रही है। उसकी भी चेतना आजादी के लिए आंदोलन संघर्षरत थी। लेकिन भारतीय समाज के 'अंग्रेज' इसे हमेशा से ही रौंदता या उपेक्षित करता रहा है। "नवजागरण" की अवधरणा में 'दलित' समुदाय के उत्थान का भाव भी शामिल था पर सनातनधर्मी वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक इसके पक्ष में नहीं थे। इसी कारण किशोरीलाल गोस्वामी, मेहता लज्जाराम शर्मा आदि आर्यसमाज आन्दोलन के विरोधी हिन्दी उपन्यासकारों ने वर्ण-व्यवस्था, जातिगत भेदभाव, छुआछूत का समर्थन और शूद्रों तथा दलितों के प्रति अपना विरोध व्यक्त किया था। वस्तुतः हिन्दी में प्रेमचन्द के कथा-साहित्य से सहानुभूतिपूर्ण दलित-विमर्श आरम्भ हुआ और अनेक समकालीन तथा परवर्ती उपन्यासकारों ने दलितों का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया।⁵⁴ सहानुभूति का यह लेखन ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में दलित समाज को जरूर उपस्थित किया, लेकिन उसकी मुक्ति की अवधरणा को कभी भी नहीं रेखांकित किया। यही कारण है कि दलित चिंतन और उसकी वैचारिकता का सौन्दर्य सहानुभूति पूर्ण लेखन को सहकर्मी की भूमिका के तौर पर स्वीकार करते हैं। प्रेमचन्द के बाद दलित जीवन का चित्रण करने वाला उपन्यास 'बलचनमा', 'वरुण के बेटे', नागार्जुनद्व, देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिए', 'ब्रह्मपुत्रा', रेणु का 'मैला आंचल', उदय शंकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य', हिमांशु श्रीवास्तव के 'लोहे के पंख', रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूं', शैलेश मटियानी के 'कोई अजनबी नहीं', 'सर्पगन्ध', जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के 'मुर्दाघर', जगदीश चन्द्र के 'धरती धन न अपना', 'नरक कुंड में वास', गोपाल उपाध्याय का 'एक टुकड़ा इतिहास', शिवप्रसाद सिंह के 'शैलूष', संजीव के 'सूत्राधर', अमृतलाल नागर के 'नाच्यौ बहुत गोपाल', गिरिराज किशोर के 'यथाप्रस्तावित' और 'परिशिष्ट', रमेशचन्द्र शाह के 'किस्सा गुलाम', सुबोध कुमार श्रीवास्तव के 'हीरा परा बाजार में', मदन दीक्षित के 'मोरी की ईंट', तेजिन्दर के 'उस शहर तक', मैत्रोयी पुष्पा के 'अल्मा कबूतरी' आदि हैं। जिसमें सहानुभूतिपूर्ण दलित समाज का चित्रण किया है और कहीं कहीं सुधरवादी चेतना के तहत परिवर्तन का आगाज किया गया है। सहानुभूतिपरक लेखन में जीवन मूल्य किस प्रकार स्थापित हो रहा है। इसे 'नाच्यौ बहुत गोपाल' की नायिका निर्गुणिया के इस कथन से समझा जा सकता है कि "जो हूं वही हो सकती हूं-जो होना चाहती थी वह अपनी इस जिन्दगी में नहीं हो सकती, क्योंकि सरकार मैं खूब जानती हूं कि चाहे महात्मा गांधी कहें, चाहे आर्य समाज वाले कोशिश करें, मगर कम से कम सौ, दो सौ पांच सौ बरसों तक हिंदुस्तान बदलेगा नहीं। मेहतर को महतर ही रहना होगा।"⁵⁵ यही चेतना सहानुभूतिपरक लेखन को 'स्व' अनुभूति की प्रामाणिकता से अलग करती है। मधुरेश के अनुसार "मेहतर समाज के इस केंद्रीय कथ्य के साथ नागर जी कामचेतना के उदात्तीकरण द्वारा संयम की प्रतिष्ठा पर भी बल देते हैं। निर्गुनिया के संदर्भ में उनका यह प्रयास इसलिए आरोपित लगता है कि वह उसकी सामाजिक हैसियत को अनदेखा करके किया गया प्रयास है। उसके प्रतिरोध को विश्वसनीय न बना पाना ही, एक उपन्यासकार के रूप में, नागर जी की उल्लेखनीय विफलता है।"⁵⁶ हिन्दी उपन्यास के इस सहानुभूतिपूर्ण परिवर्तन के महत्व को



नकारा नहीं जा सकता है लेकिन दलित चिंतन की वैचारिकता और उसके सौन्दर्यबोध की कसौटी पर कसा जाना गलत नहीं होगा। यहीं से परिवर्तन का सही कदम और सकारात्मक उठाया जा सकता है।

आजादी के पूर्व भारतीय समाज के सभी समुदाय शामिल थे। सभी के स्वप्न और आकांक्षा निहित थी आजादी के संघर्ष में। आजादी की त्रासदी ने भारतीय समाज के दो टुकड़े कर दिए। यह त्रासदी मानव मानव का विभाजन था और आधार बना था हिन्दू-मुस्लिम। विभाजन के इस सौन्दर्य को हिन्दी उपन्यास ने अपनी संवेदना में समेटा है। “आजादी के बाद के मुस्लिम संदर्भ से जुड़े उपन्यासों को तीन चरणों में बांटकर देखा जा सकता है। पहले चरण के उपन्यास देश के बंटवारे से पैदा हुए साम्प्रदायिक तनाव और उससे सम्बन्धित (हिंसा, लूटपाट, आगजनी, पलायन और शरणार्थी जीवन आदि से संबंधित हैं। इसका चित्रण देवेन्द्र सत्यार्थी, यशपाल, भीष्म साहनी, द्रोणवीर कोहली आदि ने पूरी विश्वसनीयता के साथ किया है। बाद में देश के भीतर होने वाले छिटपुट हिन्दू-मुस्लिम दंगों का चित्रण भी कुछ उपन्यासकारों ने किया है, पर संवेदनात्मक स्तर पर उनका विशेष महत्व नहीं है दूसरे चरण में वे उपन्यास आते हैं जिनमें देश विभाजन के बाद भारत में रह गये अल्पसंख्यक मुसलमानों की जिन्दगी और नियति का चित्रण हुआ है। इन उपन्यासकारों में शानी, राही मासूम रजा, बदीउज्जमां, मंजूर एहतेशाम, नासिरा शर्मा, अब्दुल बिस्मिल्लाह, असगर वजाहत आदि उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने मध्यवर्गीय तथा निम्नमध्यवर्गीय मुस्लिम समाज के हालात के विश्वसनीय अंकन के साथ-साथ भारतीय नागरिक के रूप में उनकी मुश्किलों और साम्प्रदायिक सोच के साथ उनके समझौतों और टकरावों का चित्रण किया है। तीसरे चरण के उपन्यास वे हैं जिनमें देश में साम्प्रदायिक सोच और भावना के प्रसार तथा उनके कारणों की पड़ताल की गयी है। प्रियंवद, गीतांजलिश्री, भगवानदास मोरवाल, भगवान सिंह, रवीन्द्र वर्मा आदि ने अपने उपन्यासों में साम्प्रदायिक विमर्श को अधिक महत्व दिया है। इस संबंध में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि हिन्दी के उपन्यासकार साम्प्रदायिक सोच और भावना की दृष्टि से उदार, मानवीय और प्रजातांत्रिक मूल्यों से परिचालित है।⁵⁷ अर्थात् हिन्दी उपन्यास का सौन्दर्य मुस्लिम संदर्भ में उदार, मानवीय और प्रजातांत्रिक मूल्यों को स्थापित करता है। यह मूल्यों राजनीतिक संदर्भ और मानवता से ही संचालित रहा है। मानवबोध को नहीं स्थापित कर पाया है। इसका एक कारण राजनीतिक सत्ता है और उसकी मजबूरी है तथा दूसरा कारण सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर मानवबोध की अनुभूति का अभाव है। मानवबोध का सौन्दर्य स्थापित करना अभी भी हिन्दी उपन्यास के सौन्दर्य में विकल्प की तलाश है। यह विकल्प ही संवैधानिक मूल्यों की स्थापना होगी।

“यद्यपि संविधान में भारत को ‘समाजवादी गणतंत्रा’ कहा गया, पर सामन्ती और पूंजीवादी ताकतों ने राजनीति में प्रवेश कर अप्रत्यक्ष रूप में उस पर अपना कब्जा जमा लिया। समकालीन कांग्रेसी नेतृत्व इस प्रवृत्ति पर रोक लगाने में समर्थ नहीं हुआ अथवा अपना जनाधर कमजोर होते देख उसने इसके सामने घुटने टेक दिए। धीरे-धीरे संसद और विधन सभाओं में चुनाव जीतने के लिए पैसे का महत्व बढ़ता गया और इसके साथ-साथ सामन्तों, जमींदारों, भूमिपतियों और पूंजीपतियों का शासन-तंत्रा पर प्रभाव भी बढ़ता गया। इसी के अनुपात में आर्थिक भ्रष्टाचार में भी वृद्धि हुई। जातिवाद, साम्प्रदायवाद, क्षेत्रीयतावाद और इनसे जुड़े षडयंत्रों का तो प्रवेश राजनीति में हुआ ही, सत्ता बनाए रखने के लिए चरित्रहीन सांसदों को रिश्वत भी दी जाने लगी। आज तो रिश्वतखोर, तस्कर, डकैत, आर्थिक घोटाला करने वाले, सत्ता का दुरुपयोग करके धन जमा करने वाले, करोड़ों का आयकर हड़प जाने वाले सभी प्रकार के अपराधी राजनीति पर काबिज हो गये हैं। हिन्दी उपन्यास देश की इस बदलती हुई स्थिति के प्रति जागरूक रहा है।⁵⁸ जागरूकता की गहरी पहल हिन्दी उपन्यास को करनी है। राजनीतिक सत्ता की इस विद्रूपता को उजागर कर मानवबोध और संवैधानिक मूल्यों की स्थापना की पहल करना हिन्दी उपन्यास के हिस्से का कार्य है जिसे अभी करना बाकी है। “आजादी के बाद के उपन्यासों में स्वाधीनता संग्राम के सक्रिय रूप ग्रहण करने से लेकर बीसवीं सदी के अन्त तक के व्यापक राजनीतिक संदर्भ का बहुत विश्वसनीय अंकन हुआ है। यह चित्रण देश की ईमानदार जनता की सोच और संवेदना का प्रतिनिधित्व करने के कारण भविष्य में ऐतिहासिक महत्व का होगा, इसमें दो मत नहीं हो सकते।⁵⁹ इस प्रकार हिन्दी उपन्यास का सौन्दर्य विषय वस्तु के आधार पर समझा जा



सकता है लेकिन साहित्य में विषयवस्तु के साथ विषयवस्तु को वहन करनेवाली भाषा का भी महत्व रहा है। हिन्दी उपन्यास का भाषिक सौन्दर्य विषयवस्तु की विविधता के अनुरूप रहा है।

उपन्यास यदि यथार्थ और यथार्थवादी चेतना का विस्तार है तो भाषा उसकी प्रकृति और संभावनाओं को व्यक्त करने वाली एकमात्रा शक्ति है। साहित्यिक विधियों में उपन्यास की विशिष्ट स्थिति इस बात से बनती है कि वह अपने समय के यथार्थ और बदलाव का ग्राफ ही नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना की धड़कन और विस्फोट का भूकम्प-प्रलेख भी होता है। भारत जैसे भौगोलिक दृष्टि से विशाल तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वैविध्य वाले देश में आधी सदी के दौरान पैदा हुई स्थितियों-परिस्थितियों, संघर्षों-उल्लानों, आकांक्षाओं-स्वप्नों, निराशाओं-हताशाओं का प्रलेखन उपन्यास द्वारा ही संभव था। इस व्यापक और गतिशील यथार्थ को व्यक्त करने के लिए वैसी ही व्यापक और गतिशील स्वभाव वाली भाषा भी अपेक्षित थी। इस अपेक्षा की पूर्ति हिंदी जैसी ही भाषा से संभव थी, जिसका मानक रूप तो एक है, पर जो अपनी शक्ति अपने परिवार की विभिन्न भाषाओं से प्राप्त करती है और जिसमें समय के साथ बदलने की अद्भुत क्षमता भी है। “इधर सदी के अंतिम दशक में हिन्दी उपन्यास की भाषा में एक नयी प्रवृत्ति विकसित होती दिखाई देती है। अब तक भाषा यथार्थ, यथार्थ की चेतना, पात्रों की संवेदना और चिंतन को व्यक्त करने का काम करती थी। यदि उसमें कहीं बोधगम्यता बाधित होती जान पड़ती थी तो उसका कारण चिंतन और अनुभूति की जटिलता या लेखक की अक्षमता होती थी। पर सदी के अन्त में कतिपय उपन्यासकार सैमितिक रूप में भाषा को शाब्दिक खिलवाड़ या इन्द्रजाल मानने लगे हैं। वे उपन्यास के कथा-संसार को जादुई जगत में और ठोस यथार्थ को जादुई यथार्थ में परिणत करने को अपना उद्देश्य मानते हैं। वस्तुतः यह प्रवृत्ति उस उत्तर आधुनिकतावाद की देन है जिसके अनुसार साहित्य मात्रा शब्दों का खिलवाड़ है।”⁶⁰ दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उत्तर आधुनिकतावाद के प्रभाव स्वरूप हिन्दी भाषा के स्वरूप में जो बदलाव हुआ है वह हिन्दी उपन्यास के सौन्दर्य के बदलाव को सूचित करता है। उसकी बदलती संवेदना को ओर संकेत करता है। उत्तर आधुनिकता जो कि पूंजीवाद का दृष्टिकोण है। वह बाजार के माध्यम से किस प्रकार साहित्य की चेतना को कुंद करता है भाषा को शाब्दिक खिलवाड़ का रूप देकर साहित्य की चेतना को कैद करने की कोशिश करता है और बाजार के अनुसार साहित्य की रचना करता है। साहित्य बाजार का बाईप्रोडक्ट बनकर रहे उसी की कवायद करता है। हिन्दी उपन्यास के सौन्दर्य को बाईप्रोडक्ट बनने से रोकना ही हिन्दी उपन्यासकार की सामाजिकता है और उसकी चेतना भी। मधुरेश के शब्दों में “उपन्यास जीवन का सघन और प्रामाणिक चित्राण करके ही अपने होने को सार्थक करता है। अकारण ब्यौरों और विस्तार का विकल्प न तो अमूर्तन है और न ही कैसा भी भाषायी खिलंदरापन। उसकी सफलता वस्तुतः उस रचाव एवं संतुलन में निहित है जो अपनी अंतर्वस्तु के अनुरूप अपने रचना-तंत्रा और भाषा की तलाश करता है।”⁶¹ मधुरेश के अनुसार उपन्यास की सफलता रचाव एवं संतुलन में है, औपन्यासिक शैली में है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास का सौन्दर्य जीवन के सघन और प्रामाणिक चित्राण में निहित है। उसकी सफलता भाषायी जादुई में नहीं विषयवस्तु और विषयवस्तु की संप्रेषणीयता सहज-सरल भाषा में निहित है। हिन्दी उपन्यास का सौन्दर्य उदय और विकास क्रम में जहां प्रारंभिक काल में मनोरंजनपरक एवं सुधरवादी आंदोलन से प्रभावित रहा है और औपनिवेशिक शासन-सत्ता से मुक्ति आंदोलन में सत्ता हस्तांतरण में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष विरोध का रहा है। वहीं स्त्री शिक्षा या कहें कि स्त्रियों के प्रति उनका सौन्दर्य आचार संहिता के साथ स्त्री साक्षरता का रहा है। शासन सत्ता या वर्णसत्ता के साथ मुठभेड़ का नहीं रहा है। लेकिन हिन्दी उपन्यास में सत्ता तंत्रा की प्रकृति का उजागर समय-समय पर होता रहा है। उसका सौन्दर्यबोध जीवन मूल्यों की स्थापना करना नहीं रहा है बल्कि सामाजिक यथास्थिति का चित्राण करना रहा। वह कलात्मक मूल्यों की तलाश करता रहा है। लेखन अनुभूति-सहानुभूति के साथ समन्वय का स्वरूप धरण करता रहा लेकिन ‘राइटिंग ऑफ कान्सिडरनेस’ बनने की प्रक्रिया में रहा, बन न सका। ‘राइटिंग ऑफ कान्सिडरनेस’ बनने के लिए अस्मितामूलक चिंतन का इंतजार करना पड़ा। सच तो यह है कि ‘राइटिंग ऑफ कान्सिडरनेस’ की शुरुआत ही अस्मितामूलक चिंतन से हुआ है, परिवर्तनकामी



आंदोलन से हुआ है। मानव मन की अतल गहराई का चित्राण हुआ, परन्तु मन की अतल गहराई में छुपे मूल्यबोध की स्थापना न के बराबर हुई। हिन्दी उपन्यास के सौन्दर्य की खास विशेषता रही है कि जीवन के विविध पहलुओं का चित्राण मिलता है, हुआ भी है लेकिन जीवन मूल्यों की स्थापना समाज में नहीं कर सका। क्योंकि जीवन मूल्यों की स्थापना व्यवस्था से टकराना है और हिन्दी उपन्यास के सौन्दर्य में इसी की कमी रही है। परिवर्तनकामी प्रतिरोध की संस्कृति की चेतना जागृत करने में हिन्दी उपन्यास का सौन्दर्य असपफल रहा है। कहीं कुछ सपफलता मिली भी है तो परिवर्तन करने की शक्ति नहीं तैयार कर सका। कलात्मकता के मोहजाल में पफंसा रहा। यहीं से हिन्दी के अस्मितामूलक उपन्यास के सौन्दर्य भिन्न हो जाता है। अस्मितामूलक चिंतन की रचनाएं बिना किसी कलात्मकता की पहचान किए परिवर्तन की शक्ति अर्जित की हैं और जीवन मूल्यों की स्थापना करने की कवायद शुरू कर दीं।

संदर्भ :

1. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 13
2. वही, पृ. 20
3. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2058, पृ. 249
4. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 64
5. वही, पृ. 117
6. मधुरेश , हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 30
7. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 123
8. वही, पृ. 125
9. वही, पृ. 135
10. वही, पृ. 119
11. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2058, पृ. 258
12. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 23
13. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2058, पृ. 273
14. वही, पृ. 273
15. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 104
16. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2058, पृ. 293
17. कुसुम मेघवाल, हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 44
18. शिवदान सिंह चौहान, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 128
19. वही, पृ. 129
20. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2058, पृ. 293
21. शिवदान सिंह चौहान, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 130
22. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 29
23. वही, पृ. 31
24. कुसुम मेघवाल, हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 50
25. वही, पृ. 50
26. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 96
27. प्रेमचन्द, गोदान, मनोज पॉकेट बुक्स, दिल्ली, पृ. 48
28. वही, पृ. 49
29. वही, पृ. 308
30. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 132
31. वही, पृ. 134
32. शिवदान सिंह चौहान, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 132



33. वही, पृ. 137
34. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 165
35. चौथीराम यादव, हजारीप्रसाद द्विवेदी समग्र पुनरावलोकन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ. 48
36. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 87
37. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 171
38. शिवदान सिंह चौहान, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 139
39. वही, पृ. 140
40. वही, पृ. 141
41. वही, पृ. 142
42. वही, पृ. 143
43. वही, पृ. 144
44. वही, पृ. 145
45. वही, पृ. 146
46. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 129
47. शिवदान सिंह चौहान, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 146
48. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 399
49. पफणीश्वर नाथ रेणु, मैला आंचल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 2
50. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 158
51. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 401
52. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, आवरण पृष्ठ
53. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 427
54. वही, पृ. 428
55. अमृत लाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1979, पृ. 300
56. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 108
57. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 438
58. वही, पृ. 439
59. वही, पृ. 442
60. वही, पृ. 470
61. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 232

संपर्क:

057, ताप्ती छात्रावास
जेएनयू, नई दिल्ली-67
मो. 09868721972

ई-मेल: [चतअपदाउत05 / हउंपसणबवउ](mailto:chattanpadasat05/hunpanshbv05)